Scanned by CamScanner

ISBN NO : 978-93-92212-63-5

© सर्वाधिकार : सम्पादक

प्रथम संस्करण : 2015

प्रकाशक
पहले पहल प्रकाशन, भोपाल
मो. 9425011789

मुद्रक
पहले पहल प्रिंटरी
25 ए प्रेस कम्पलेक्स, भोपाल
दूरभाष : 0755 – 2555789

इस पुस्तक को संकलित शोध पत्रों के आधार पर प्रकाशित किया गया है। किसी भी लेख में अभिव्यक्त मत के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है। इसके लिए सम्पादक का कोई दायित्व नहीं होगा।

Scanned by CamScanner

गीता में सामाजिक व्यवस्था

प्रो. अर्चना दुबे
श्रीसोमनाथ संस्कृत विश्वविद्यालय,
राजेन्द्र भुवन रोड़, वेरावल गुजरात

गीता में यज्ञ :

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचरः।।[1] यज्ञ के लिए या यज्ञ के रूप में लिये जाने वाले कार्यों को छोड़ कर यह सारा संसार कर्मबन्धन में डालने वाला है। इसलिए हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन) सब प्रकार की आसक्ति से मुक्त होकर यज्ञ के रूप में तू अपना कार्य कर। गीता के अनुसार कर्तव्यमात्र का नाम यज्ञ है। कर्तव्य मानकर किये जाने वाले व्यापार यथा–दान तप, होम, तीर्थ सेवन व्रत वेदाध्ययन आदि समस्त शरीरिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक कियाएं ग्रहण कर ली जाती है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भवः।।[2]

अन्न से प्राणी होते हैं। वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है। यज्ञ से वर्षा होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्यपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञंनैवोपजुह्वति।। [3]

कुछ योगी देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं, जबकि अन्य योगी ब्रह्म की अग्नि से यज्ञ द्वारा स्वयं यज्ञ को ही अर्पित कर देते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। [4]

कुछ व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के सब कर्मो को और प्राण शक्ति के सब कर्मों को आत्म संयम रूपी योग की अग्नि में समर्पित कर देते हैं, जो अग्नि ज्ञान द्वारा जलाई जाती है–

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। [5]

इसी प्रकार कुछ लोग अपनी भौतिक सम्पत्ति को या अपनी तपस्या को या अपने योगाभ्यास के यज्ञ के रूप में समर्पित कर देते हैं। जबकि कुछ अन्य लोग जिन्होंने मन को वश में कर लिया है और कठोर व्रत धारण किये हैं, अपने अध्ययन और ज्ञान को यज्ञ हेतु अर्पित कर देते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणन्प्राषेणु जुह्वति। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा।। [6]

कुछ और भी लोग हैं, जो आहार को नियमित करके अपने प्राण रूपी श्वासो में आहुति देते हैं। ये सबके सब यज्ञ के ज्ञाता हैं अर्थात् ये जानते हैं कि यज्ञ क्या है? और यज्ञ द्वारा इनके पाप नष्ट हो जाते है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम्। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञश्च कुतोऽन्यः कुरूसत्तम्।। [7]

जो लोग यज्ञ के बाद बचे हुए पवित्र अन्न (यज्ञ–शेष) को खाते हैं। वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त करने हैं, ये कुरूओं में श्रेष्ठ, जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करता, उसके लिये यह संसार ही नहीं है, फिर परलोक का तो कहना ही क्या ?

गीता में भारतीय संस्कृति :

जिस प्रकार हमारे शरीर के सब अवयव शरीर के हित के लिये हैं, उसी प्रकार संसार के सभी मनुष्य संसार के हित के लिए हैं। कोई मनुष्य किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम आदि का क्यो न हो अपने कर्मों के द्वारा दूसरों की सेवा करके सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सकता है उदाहरणतया श्री कृष्ण कहते हैं–

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। [8]

अर्थात् वे सन्त व्यक्ति, जो यज्ञ के बाद बची हुई वस्तु (यज्ञ शेष) का उपभोग करते हैं, सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो दुष्ट लोग केवल अपने लिए भोजन पकाते है, वे तो समझो, पाप ही खाते हैं।

भारतीय संस्कृति की एक मुख्य विशेषता वर्ण व्यवस्था भी है, जिसका उल्लेख गीता में किया गया है–

चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुणकर्म ..... विद्धयकर्तारमव्ययम्।। [9]

Scanned by CamScanner

गीता में विवाह और गृहस्थाश्रम :

सहयज्ञा प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। [10]

प्राचीन समय में प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्राणियों को उत्पन्न किया और कहा इसके द्वारा तुम सन्तान उत्पन्न करो और यह यज्ञ तुम्हारी अभीष्ट इच्छाओं को पूर्ण करने वाला होगा।

गृहस्थ के कर्त्तव्य :

पिण्डदान करना गृहस्थ के कर्त्तव्यो में मुख्य रूप से माना जाता है, इसके बिना गृहस्थ व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त नहीं होता है, जैसा कि अर्जुन कहता है।–

संकरो नरकायैवकुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।। [11]

यह वर्णसंकर सारे परिवार को और उस परिवार को नष्ट करने वाले लोगों को नरक में पहुंचा देता है। क्योंकि उनके पितरों की आत्माएँ अन्न और जल से वंचित होकर गिर पड़ती हैं।

उत्सन्न कुलधर्माणां मनुष्याणां जर्नादन। नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।। [12]

हे कृष्ण! हम यह सुनते आये हैं कि जिन लोगों के पारिवारिक धर्म नष्ट हो जाते हैं, उन्हें अवश्य ही नरक में रहना पड़ता है। तुम देवताओं का पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें। इस प्रकार एक दूसरे का पोषण करते हुए तुम सब परम कल्याण को प्राप्त करोगे। यहां गृहस्थ धर्म के अन्तर्गत आने वाले ब्रह्मयज्ञ की चर्चा की गयी है। ये सन्त व्यक्ति, जो यज्ञ के बाद बची हुई वस्तु का उपभोग करते हैं। सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो दुष्ट लोग केवल अपने लिए भोजन पकाते हैं, वे तो समझो, पाप ही खाते हैं।

वर्ण व्यवस्था :

गीता में वर्णव्यवस्था निम्न है– जब अधर्म फैल जाता है, तब हे कृष्ण परिवारों की स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती है। जब स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, तब वर्ण संकर अर्थात् विभिन्न जातियों का भ्रमण हो जाता है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।। [13]

यह वर्णसंकर सारे परिवार को और उस परिवार को नष्ट करने वाले लोगों को नरक में पहुँचा देता है, क्योंकि पिंजरों अर्थात् पूर्वजों की आत्माएँ अन्न और जल से वंचित होकर गिर पड़ती हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः। उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।। [14]

कुल का विनाश करने वाले लोगों के इन दुष्कर्मों के कारण, जिनके वर्ण संकर अर्थात् जातियों का मिश्रण उत्पन्न होता है, सदा से चले आ रहे जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं। मैंने गुण और कर्म के हिसाब से चार वर्गों की सृष्टि की थी। यद्यपि मैं इसका सृजन करने वाला हूँ, फिर भी तू यह ज्ञान रख कि न कोई कर्म करता है और न मुझमें कोई परिवर्तन होता है।

गीता में शिक्षा :

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। [15]

जिस व्यक्ति में श्रद्धा है, जो इस ज्ञान को प्राप्त करने में तत्पर है, और जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिश है, वह ज्ञान को प्राप्त करता है और ज्ञान को प्राप्त करके वह शीघ्र ही सर्वोच्च शान्ति को प्राप्त करता है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी। शुनि चैवश्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।[16]

पण्डित लोग सुशिक्षित और विनयशील ब्रह्मण को, गाय को, हाथी को, या कुत्ते चण्डाल तक को समान दृष्टि से देखते हैं।

गीता में आश्रम व्यवस्था :

प्राचीनकाल में मनुष्य का जीवन चार भागों में विभक्त था। ब्रह्मचर्य आश्रम 0–25 वर्ष तक, गृहस्थ 25–50 वर्ष तक, वानप्रस्थ आश्रम 50–75 वर्ष तक, तथा संन्यास आश्रम 75–100 वर्ष तक। इन आश्रमों के माध्यम से व्यक्ति चार पुरुषार्थ की पूर्ति करता था, ब्रह्मचर्य में धर्म, गृहस्थ आश्रम में अर्थ और काम, वानप्रस्थ आश्रम में पुनः धर्म की

Scanned by CamScanner

संन्यास आश्रम में मोक्ष की प्राप्ति करता था। प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश के लिए उपनयन संस्कार अनिवार्य था। उपनीत ब्रह्मचारी ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता था।

गृहस्थ आश्रम – समावर्तन संस्कार के पश्चात् इस आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार दिया गया है। यह सन्तान उत्पत्ति का आश्रम है तथा ये आश्रम ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यास का आश्रम स्थल है। गृहस्थ आश्रम बिना गृहस्थी के अपूर्ण है, "नं गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते" कहकर गृहणी की महत्ता अभिव्यक्त की गई है। गृहस्थ आश्रम के उद्देश्य निर्धारित किये है– रति सुख, सन्तति, सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन। पञ्चमहायज्ञ, अतिथि सेवा, माता–पिता तथा विद्वानों की सेवा–शुश्रुषा आदि गृहस्थ आश्रम के प्रमुख कर्तव्य है। गृहस्थ की जीवनचर्या दो भागों में बंटी है– धार्मिक और व्यावहारिक चर्या।

धार्मिक चर्या – पञ्च महायज्ञ– ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, अतिथियज्ञ, भूतयज्ञ।

वानप्रस्थ आश्रम – गृहस्थ आश्रम के बाद मनुष्य वानप्रस्थ में प्रवेश करता है। सांसारिक वासनाओं से तृप्त होकर उसका हृदय संसार से अनासक्त होने लगता है। अतः वह वन में जाकर प्रभु भक्ति में लग जाता है, इसे वानप्रस्थ आश्रम कहते हैं। वानप्रस्थ का अर्थ है–वन की ओर प्रस्थान करना। आचार्य शंकर ने इस आश्रम को "वैधानस्य" कहा है।

सन्यास आश्रम – इस आश्रम का ध्येय मोक्ष प्राप्त करना होता है। अतः मनुष्य सांसारिक विषय वासनाओं से दूर होकर सन्यास आश्रम में प्रवेश करता है। सन्यासी के प्रमुख कर्तव्य निम्न हैं– अग्नि होत्र करना, अग्नि समारोपण, जलांजलि अर्पण, नित्य स्नान, जल छानकर ही पिये, सन्यास आश्रम में प्रवेश करने से पूर्व अन्तिम वार तर्पण करें। सिद्ध गुरू से दीक्षा ग्रहण करे, प्रातः तथा संध्याकाल में संध्या उपासना करें। अतिथि यज्ञ को छोड़कर अन्य चातुर्मास यज्ञ करे, तीथार्टन करे, सन्यासी का नाम परिव्राजक भी है, अर्थात् चारों ओर भ्रमण करने वाला, अतः इसे गृहविहीन होना चाहिये। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं –

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङक्ष्यति। निर्द्वन्द्वो हि महावाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।[17]

जो व्यक्ति न किसी वस्त ु से घृणा करता है और न किसी वस्तु की इच्छा करता है, यह समझना चाहिये कि उसमें सदा सन्यास की भावना भरी हुई है, क्योकि हे महाबाहु सब द्वन्दों से मुक्त होने के करण वह बन्धन से सरलता से छूट जाता है। संन्यास आश्रम में व्यक्ति को सब कुछ त्यागना पड़ता है, जिसे वे लोग सन्यास कहते हैं वे पाण्डव, उसे तू अनुशासित कर्मयोग समझ। क्योंकि कोई व्यक्ति अपने स्वार्थ के संकल्प को त्यागे बिना योगी नहीं बन सकता। अतः योगी का इच्छारहित होना आवश्यक है।

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं वुधाः।।[18]

जिसके सब कार्य इच्छा के संकल्प से स्वतन्त्र है, जिसके कर्म ज्ञान की अग्नि में जल गये हैं, उसे ज्ञानी लोग पण्डित कहते हैं। श्री कृष्ण कहते हैं कि योगी को चाहिये कि वे एकान्त में अकेला बैठकर अपने आप को वश में रखते हुए, सब इच्छाओं से मुक्त होकर और किसी भी परिग्रह (धन, सम्पत्ति, साज–समान) की कामना ना करते हुए अपने मन को परम् आत्मा में एकाग्रचित्त करे।

श्री कृष्ण योगी व्यक्ति की जीवनशैली के विषय में कहते हैं –

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। यक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। [19]

जो व्यक्ति परिमित मात्रा में आहार और विहार करने वाला है, जिसने अपनी चेष्टाओं को नियम से रखा है, जिसकी निद्रा और जागरण नियमित है, उसमें एक ऐसा अनुशासन आ जाता है, जो सब दुःखों का नाश कर देता है।

गीता में संस्कार :

जीवन में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान हे, चिर संचित कुसंस्कार सन्मार्ग में बाधा बनते है। अतः इसके निवारण हेतु व्यक्ति को संस्कारों को स्वीकार करना चाहिए। चूंकि अनेक जन्मों के संग्रहित कुसंस्कारों के कारण मन में कितनी ही विकृतियाँ भरी रहती हैं तथा वे साधक को पथ भ्रष्ट करने के लिए निरन्तर दूरभि सन्धि करती रहती हैं। मन का उच्चाटन, निर्दिष्ट लक्ष्य पर स्थिर न होना आदि विघ्नों शमन का एक महत्त्वपूर्ण उपाय प्राणों का विरोध है। इसी प्रकार जो कुसंस्कार मन को सन्मार्ग पर चलने से डराते और कुमार्ग की ओर ललचाते हैं, उन्हें नियत्रित करने का सुनिश्चित शास्त्र भी प्राण संयम ही है।

Scanned by CamScanner

तत्र तं बुद्धिसंयोगो लभते पौर्वदैहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरूनन्दनं।[20]

वहां वह अपने (बुद्धि के साथ संयोग के) उन (मानसिक) संस्कारों को फिर प्राप्त कर लेता है, जिन्हें अपने पूर्वजन्म में विकसित किया था और यकाएक से (इसे प्रारम्भ बिन्दु मानकर) हे कुरूनन्दन वह फिर पूर्णता पाने का प्रयत्न करता है। संस्कारों की संख्या वैसे तो मुख्यरूप से 16 ही है, किन्तु कई धर्मसूत्रों में इसकी संख्या 40 बताई है। शांखायन एवं विज्ञानेश्वर भी गौतम के मत को स्वीकार करते हैं। बहुधा गृह्य सूत्रकारों की संख्या 16 मानी है जो कि निम्न हैं– गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्रशन, चौलकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास, अन्त्येष्टि आदि संस्कार है।

श्रीमद्भगवद्गीता में संन्यास :

श्रीमद्भगवद्गीता में जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा। गीता में संन्यासी के कार्यों का वर्णन किया है। गीता के अनुसार संन्यासी का कर्म सहज होता है। किलकिलाते रहना पक्षियों का धर्म है। माँ की याद आना बच्चों का सहज धर्म है इसी प्रकार ईश्वर को स्मरण करना, प्राणी मात्र के प्रति दया, किसी का दोष न देखना, सबकी सेवा करना संन्यासी के सहज धर्म हैं। ज्ञानी पुरूष का सहज कर्म अकर्म की दशा को प्राप्त हो जाता है ऐसा समझना चाहिए। इसी दशा को संन्यास नामक अतिपवित्र पदवी प्रदान की गयी है। संन्यास ही परम धन्य अकर्म दशा है। गीता में संन्यासी के लक्षण को कहा गया है कि जो पुरूष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि रागद्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित पुरूष सुखपूर्वक संसार बन्धन सें मुक्त हो जाता है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव। न ह्यसंन्यास्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।। [21]

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।

यहां सन्यासी के दो प्रकारों के विषय में कहा गया है कि – एक संन्यासी प्रत्येक समय कर्म करके भी कुछ नहीं करता और दूसरा क्षण भी कुछ न करके सब कुछ करता है। यह विषय ही अपूर्व और उदात्त है क्योंकि कुछ न करके भी सब कुछ कर लेना तथा सब कुछ करके लेशमात्र भी न करना वास्तव में उदात्त, रसमय और भीनी कल्पना है। अब इन दोनों में श्रेष्ठ कौन सा है। अर्जुन के पूंछने पर वे कहते हैं–

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंसति। यच्छ्रेयः यतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।। [22]

यद्यपि श्रीकृष्ण ने कर्मयोगी को श्रेष्ठ बताया है किन्तु दोनों के संदर्भ में तुलना करें तो एक उदाहरण से सिद्ध होता है। कोई व्यक्ति किसी पर अत्यन्त क्रोध करता है तो खूब बड़बड़ाता है, तो किसी को इतना क्रोध आता है कि वह बिलकुल मौन रह जाता है। बस इससे बात ही नहीं करनी, बड़बड़ाना तथा बिलकुल मौन रह जाना – दोनों क्रोध के ही लक्षण है, यही स्थिति कर्मयोगी और कर्मसंन्यासी की है। एक करता दूसरा करते हुए भी कुछ नहीं करता। वैसे संन्यास का अर्थ है सम्पूर्ण कर्मों में कर्त्तापन के अभिमान से रहित होना। संन्यसी का यही भाव रहता है कि 'गुणागुणेषु' वर्तन्ते'।[23] योग द्वारा कर्मों को करने वाले मनुष्य को कर्म नहीं बांधते, अतः योग 'संन्यस्तकर्माणं'[24] कहा गया है।

संदर्भ संकेत –

1. गीता 3.9
2. गीता 3.14
3. गीता 4.25
4. गीता 4.27
5. गीता 4.28
6. गीता 4.30
7. गीता 4.31
8. गीता 3.13
9. गीता 4.13
10. गीता 3.10
11. गीता 1.42
12. गीता 1.44
13. गीता 1.42
14. गीता 1.43
15. गीता 4.39
16. गीता 5.18
17. गीता 5.3
18. गीता 4.19
19. गीता 6.17
20. गीता 6.43
21. गीता 6.2
22. गीता 5.1
23. गीता 3.28
24. गीता 4.41

Scanned by CamScanner